PAPER NAME

संस्कृत साहित्य में रस सिद्धान
्त का विश्लेषणात्मक अध्ययन (1).
pdf

WORD COUNT	CHARACTER COUNT
5092 Words	**16142 Characters**
PAGE COUNT	FILE SIZE
10 Pages	**375.7KB**
SUBMISSION DATE	REPORT DATE
Jul 3, 2026 1:19 PM GMT+5:30	**Jul 3, 2026 1:19 PM GMT+5:30**

0% Overall Similarity

This submission did not match any of the content we compared it against.

- 0% Internet database
- 0% Publications database
- Crossref database
- Crossref Posted Content database
- 0% Submitted Works database

Excluded from Similarity Report

- Bibliographic material
- Quoted material
- Cited material
- Small Matches (Less then 14 words)

संस्कृत साहित्य में रस सिद्धान्त का विश्लेषणात्मक अध्ययन

अविनाश कुमार पाण्डेय
शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग
नव नालन्दा महाविहार, (सम-विश्वविद्यालय)
संस्कृति मन्त्रालय, भारत सरकार, नालन्दा, बिहार- 803111
मो.- 8252702176
Email-12avinaskumar@gmail-com

शोध सारांश- संस्कृत साहित्य में रस सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वाधिक प्राचीन, प्रधान एवं प्रभावशाली सिद्धान्त है, जिसे काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है जो काव्य को रम्य एवं जीवन्त बनाता है। रस सिद्धान्त के प्रारम्भिक आचार्य भरतमुनि ने स्व रचित ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में रस सिद्धान्त को उद्धृत किया तथा सम्बन्धित रस-सूत्र देते हुये कहा **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"** अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की उत्पत्ति को स्वीकारा गया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्वग्रन्थ अभिनवभारती में रस को चित्त की एक अलौकिक अनुभूति के रूप में स्थापित किया तथा शान्त रस को नौवें रस के रूप में स्थापित कर रस सिद्धान्त को आध्यात्मिक आयाम प्रदान किया। आचार्य भरतमुनि व आचार्य अभिनवगुप्त के अतिरिक्त आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक आदि रसवादी आचार्यों ने रस के सम्बन्ध में अपने-अपने महत्त्वपूर्ण मत उपस्थित किये हैं। रस सिद्धान्त केवल सौन्दर्यबोध ही नहीं, बल्कि मानवीय भावनाओं के सार्वभौमिकरण व आध्यात्मिक मुक्ति का भी माध्यम है। इस शोध का मुख्य उद्देश्य रस सिद्धान्त का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है, जिसमें इसके विकास, प्रमुख आचार्यों के मतों, रस-निष्पत्ति तथा साहित्यिक-नाट्य अनुप्रयोगों का परीक्षण किया गया है।

यह शोधालेख विविध आचार्यों के मतों के आधार पर रस के स्वरूप, कार्य, तथा संस्कृत साहित्य में इसकी प्रस्तुति पर केन्द्रित है। रस की अभिव्यक्ति किस प्रकार काव्य में प्रभावशाली होता है, इसका अध्ययन विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से इस शोधालेख में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा। **प्रस्तुत शोधालेख रस का विस्तृत विवेचन करते हुये संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का एक प्रयास मात्र है।**

मुख्य शब्द- साहित्य, रस, भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव, स्थायीभाव, सात्त्विकभाव, रसास्वादन, नाट्य, सार्वभौमिक।

प्रस्तावना- संस्कृत साहित्य अत्यन्त प्राचीन और समृद्ध साहित्यिक परम्पराओं में से एक है। यह ज्ञान, धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र का वृहत् कोष है। इसकी प्रगति वैदिक काल से लेकर मध्यकाल तक देखी जाती है, एवं आज भी यह जीवन्त है। इसे मुख्य रूप से वैदिक संस्कृत साहित्य एवं लौकिक संस्कृत साहित्य में विभक्त किया जाता है। लौकिक संस्कृत साहित्य, इसे महाकाव्य काल भी कहा जाता है जिसमें रामायण और महाभारत आदि महाकाव्य वर्णित है। इसे स्मृति साहित्य का युग भी माना जाता है। लौकिक संस्कृत साहित्य में काव्य, नाटक, गद्य, अलंकार, भाव, रस और छन्द आदि की परिपक्वता का विकास हुआ। यह संस्कृत साहित्य मात्र ग्रन्थ ही नहीं, अपितु यह एक जीवन-शैली है जो मानव मन की कठिनाइयों को रस के माध्यम से प्रस्तुत करता है। संस्कृत साहित्य वह समृद्ध परम्परा है जिसमें रस सिद्धान्त का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतीय काव्यशास्त्र का मूल आधार निःसन्देह रस सिद्धान्त को ही माना जाता है। यह सिद्धान्त केवल साहित्यिक सौन्दर्य का विवेचन नहीं करता, अपितु मानवीय भावों की भावात्मक संरचना तथा उसकी सौन्दर्यानुभूति को भी गहराई प्रदान करता है। रस सिद्धान्त भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। जिसे संस्कृत साहित्य, नाट्य, काव्य, संगीत, नृत्य तथा अन्य कलाओं में आत्मा स्वरूप माना गया है। यदि रस शब्द की बात की जाए तो इसका शाब्दिक अर्थ रसास्वादन, सार, आनन्द या भाव की परिपक्व अवस्था है, जो दर्शक अथवा

पाठक के हृदय में उत्पन्न होता है। यह सिद्धान्त न केवल मानवीय भावनाओं को व्यवस्थित करता है बल्कि उन्हें सार्वभौमिक बनाकर आध्यात्मिक आनन्द की प्रतीति भी कराता है।

आचार्य भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' में रस सिद्धान्त को साहित्य का मूल आधार माना गया है, जिसे नाट्यवेद अथवा पञ्चम वेद की भी संज्ञा दी जाती है। इसके पश्चात् आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वरचित ग्रन्थ ध्वन्यालोक तथा आचार्य अभिनवगुप्त ने स्वग्रन्थ अभिनवभारती व ध्वन्यालोक-लोचन में और अत्यधिक व्याख्यायित कर विकसित करने का प्रयास किया। यदि रस की बात की जाए तो कला में यह भावना का परिष्कृत रूप है जो लोक-भाव से ऊपर उठकर आनन्द प्रदान करता है। आचार्य भरतमुनि ने इसे नाट्योद्देश्य से जोड़ा। नाट्य जो मनोरंजन से अधिक, दर्शक को भावों के माध्यम से परम आनन्द तक ले जाता है। संस्कृत साहित्य में रस सिद्धान्त न केवल साहित्यिक सौन्दर्य की समझ विकसित करता है, अपितु मनोविज्ञान तथा सौन्दर्य-बोध की गहन अन्तर्दृष्टि भी प्रदान करता है। आचार्य भरतमुनि के अनुसार जिसका आस्वादन किया जाता है, वह रस है। यह लौकिक आनन्द से भिन्न अलौकिक, सार्वभौमिक एवं आध्यात्मिक आनन्द है, जो सहृदय पाठक या दर्शक के हृदय में उत्पन्न होता है।

संस्कृत साहित्य में रस सिद्धान्त की अवधारणा एवं स्वरूप- यदि रस सिद्धान्त की बात की जाये तो, इसकी अवधारणा प्राचीन वैदिक काल से ही प्राप्त होती है। जहाँ उपनिषद् में 'रस' का प्रयोग जल, सार अथवा आनन्द के अर्थ में हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म को रस कहा गया है: **रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।**[1] अर्थात् ब्रह्म के वर्णन से प्रतीत होता है कि रस का अर्थ ब्रह्म और ब्रह्म का अर्थ ही रस है। अर्थात् परमात्मा ही वह रस परम आनन्द है। वह आनन्द का स्वरूप है। वहीं भौतिक रूप से रामायण में वाल्मीकि द्वारा क्रौंच पक्षी की करुणा से श्लोक की उत्पत्ति रस सिद्धान्त की प्रारम्भिक झलक मानी जाती है। वैदिक साहित्य में रस सिद्धान्त को भौतिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों में परिष्कृत किया गया है। आगे चलकर रस सिद्धान्त को भारतीय काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र का मूल सिद्धान्त माना जाने लगा, जिसके प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि कहे जाते हैं। जिन्होंने इसे व्यवस्थित रूप दिया तथा नाट्यशास्त्र के छठे एवं सातवें अध्याय में रस को मुख्य रूप से प्रतिपादित करते हुये कहा कि रस का शाब्दिक अर्थ 'रस' या आनन्द' है, जो कला, साहित्य, नाटक, नृत्य, संगीत आदि के माध्यम से दर्शक व पाठक में उत्पन्न होने वाला अलौकिक, सार्वभौमिक भावात्मक आस्वादन है। काव्य में यह ऐसी अनुभूति है जो पाठक या दर्शक के हृदय में उत्पन्न होती है। उन्होंने रस को मुख्य रूप से नाट्य के सन्दर्भ में कहा है- **न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।**[2] अर्थात् रस के बिना कोई अन्य अर्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः सम्पूर्ण नाट्य जगत् ही रसात्मक है। आचार्य भरत नाट्य के माध्यम से रस को व्यक्त करते हुये स्व ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में रस सूत्र देते हुये कहते हैं कि- **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"**[3] अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यह सूत्र रस सिद्धान्त का आधार है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव को रस निष्पत्ति के तीन प्रमुख घटक बताए गए हैं। ये तीनों घटक स्थायीभाव के साथ सम्बद्ध होकर रसावस्था को प्राप्त करते हैं। अतः रस के उत्पत्ति के ये चार अंग समझने चाहिए।

स्थायीभाव- मानव हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान रहने वाला मनोभाव स्थायीभाव कहलाता है, जो विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों से जुड़कर मानव हृदय में रसोद्घाटन की क्रिया को पूर्ण करते हैं।[4] आचार्य भरतमुनि ने इसकी संख्या आठ बतायी है। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय।[5]

विभाव- जिसके द्वारा वाचिक एवं आंगिक अभिनयों पर आश्रित अनेक पदार्थ विभावित होते हैं अर्थात् जिससे अनेक भावों का अवबोध होता है, वह विभाव कहलाता है।[6] विभाव को रस निष्पत्ति का कारण माना जाता है, ये दो प्रकार के होते हैं। आलम्बन विभाव व उद्दीपन विभाव। रस की प्रक्रिया में आलम्बन व उद्दीपन विभाव को रस का बाह्य कारण समझना चाहिए। आलम्बन

---

[1] तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.7.2.

[2] नाट्यशास्त्र, अध्याय 6, पृ 33 सूत्र वाक्य

[3] नाट्यशास्त्र, 6 पृ 34

[4] नाट्यशास्त्र, अध्याय 7, पृ 379

[5] नाट्यशास्त्र, 6.18

[6] नाट्यशास्त्र, 7.4

विभाव- जिसके कारण भाव उत्पन्न होता है, जैसे नायक व नायिका। उद्दीपन विभाव- जो भाव को उद्दीप्त करता है। जैसे ऋतु, वातावरण इत्यादि।[7]

अनुभाव- जो नाट्य में वाचिक एवं आंगिक अभिनयों के द्वारा शाखा, अंग एवं उपांगों से युक्त अर्थ अनुभावित होता है, वह अनुभाव कहलाता है।[8] अर्थात् भावों की बाह्य अभिव्यक्ति को अनुभाव कहते हैं, जैसे- आँखों से आँसू, मुस्कान, शारीरिक-चेष्टायें इत्यादि। ये अस्थायी होते हैं, जो स्थायीभाव को पुष्ट कर रसोत्पत्ति में प्रभावशाली होते हैं।

व्यभिचारिभाव- 'वि' तथा 'अभि' उपसर्ग से गत्यर्थक 'चर्'धातु से युक्त व्यभिचारी शब्द का अर्थ है जो विविध प्रकारों से रसों कि ओर उन्मुख होकर संचरणशील होते हैं वे व्यभिचारी कहलाते हैं। जब ये व्यभिचारी वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से युक्त होकर प्रयोग में रसों को ले जाते हैं व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। ये भाव क्षणिक होते हैं।[9] इनकी संख्या को बताते हुये आचार्य भरतमुनि कहते हैं निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध (प्रबोध), आमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास तथा वितर्क यह 33 व्यभिचरिभाव होते हैं।[10]

अत: रसोत्पत्ति में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव उपयोगी घटक होते हैं। इन सभी भावों के समन्वय से ही स्थायीभाव परिपक्व होता है एवं रस रूप को ग्रहण करता है।

रसों की संख्या का संक्षिप्त विवेचन- आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रसों की कुल संख्या आठ बतायी है-

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥[11]

अर्थात् शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत नाट्य में ये आठ रस माने जाते हैं। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में सभी आठ रसों के स्थायीभाव को भी बताया है।

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिता॥[12]

अर्थात् रति, हास, शोक, फोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय ये आठ, क्रमशः आठों रसों के स्थायीभाव हैं। किन्तु इन आठ रसों व स्थायीभावों के अतीरिक्त उन्होंने 'शान्त' को भी रस के रूप में कहा तथा शम को इसके स्थायीभाव के रूप में बताया। रस का विश्लेषण करते हुये आचार्य भरतमुनि ने रस तथा उनके स्थायी भावों के अतिरिक्त उनके वर्ण तथा देवता आदि को भी बताया है जहाँ उन्होंने श्रंगार रस का वर्ण श्याम व देवता विष्णु। हास्य रस का वर्ण श्वेत व देवता शिव। करुण रस का वर्ण कपोत व देवता यम। रौद्र रस का वर्ण रक्तव देवता रुद्र। वीर रस का वर्ण गौर व देवता इन्द्र। भयानक रस का वर्ण कृष्ण व देवता काल। बीभत्स रस का वर्ण नील व देवता महाकाल। अद्भुत रस का वर्ण पीत व देवता ब्रह्मा। शान्त रस का वर्ण शुक्ल व देवता विष्णु बताया है।[13] आचार्य भरतमुनि द्वारा रस सिद्धान्त के व्यवस्थित प्रतिपादन के पश्चात आगे चलकर आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने विकसित और परिष्कृत किया।

प्रमुख आचार्यों की रस व्याख्या- रस सिद्धान्त के विषय में आचार्य भरतमुनि के अतिरिक्त अनेकों साहित्यकारों ने अपने-अपने महत्त्वपूर्ण रस विषयक मत प्रस्तुत किये हैं जिनमें कुछ प्रमुख आचार्यों के मत उल्लेखित हैं-

---

[7] काव्यप्रकाश, 4 पृ 95

[8] नाट्यशास्त्र, 7.5

[9] नाट्यशास्त्र, 7 पृ 269

[10] नाट्यशास्त्र, 6.19,20,21,22

[11] नाट्यशास्त्र, 6.16

[12] नाट्यशास्त्र, 6.18

[13] नाट्यशास्त्र, 6.43,44,45,46

आनन्दवर्धन- ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि के माध्यम से रस को सर्वोच्च स्थान दिया है। रस के विषय में वे 'ध्वन्यालोक' में कहते हैं कि रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है।[14] आचार्य आनन्दवर्धन रसध्वनि को सर्वोच्च बताते हुये कहते हैं कि ध्वनि के द्वारा ही रस की अभिव्यक्ति होती है और वह रस काव्य को पुष्ट करता है। रस काव्य का अनुभवात्मक पक्ष है और ध्वनि उसका अभिव्यक्तिपक्ष।

अभिनवगुप्त- आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में रस सूत्र की गहन व्याख्या करते हुये आचार्य भरतमुनि के रस सूत्र को प्रमाणिक बताते हुये कहा है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से रस कि निष्पत्ति होती है। उनके अनुसार रस केवल स्थायीभाव को ही परिपुष्ट नहीं करते बल्कि वह अनुकर्ता व अनुकार्य दोनों में अवस्थित रहता है।[15] उन्होंने रस को परमानन्द की अनुभूति माना है। उन्होंने रस को सहृदय के चित्त में निहित वासनाओं की अभिव्यक्ति मानते हुये शान्त रस को नवम रस के रूप में प्रतिष्ठित किया, जिसे वे सभी रसों का मूल मानते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने शान्त रस को प्रधानता दी, क्योंकि उनका मानना है कि शान्त रस ही मोक्ष का मूल साधन है।

मम्मट- आचार्य मम्मट रस विषयक अपना मत देते हुये काव्यप्रकाश में कहते हैं-

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेनाट्यकाव्ययोः।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैविभावाद्यैः स्थायी जावो रसः स्मृतः।।[16]

अर्थात् लोक में रति आदि रूप स्थायी भाव के जो कारण, कार्य तथा सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक या काव्यमें प्रयुक्त होते हैं, तो क्रमशः विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव कहलाते हैं और उन विभाव आलम्बन या उद्दीपन आदि रूप कारण, कार्य तथा सहकारियों के योग से व्यक्त वह रति आदिरूप स्थायीभाव ही रस कहलाता है। आचार्य मम्मट ने भी ध्वनि के माध्यम से रस को काव्य संगत माना है।

आचार्य विश्वनाथ- आचार्य विश्वनाथ ने भी आचार्य मम्मट के रस विषयक मत को स्वीकार करते हुये स्पष्ट कहा है कि रस काव्य का अभिन्न अंग है। वे साहित्यदर्पण में कहते हैं **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'**[17] अर्थात् रस से युक्त वाक्य ही रस है, क्योंकि रस के बिना वाक्य (काव्य) में काव्यत्व का अभाव होता है।

धनंजय- आचार्य धनंजय ने रस की सत्ता को नाट्य में स्वीकार करते हुये स्व ग्रन्थ दशरूपक में रूपकों को दस भागों में विभक्त करते हुये कहा है- **दशधैव रसाश्रयम्।**[18] अर्थात् नाट्य में जो दस रूपक कहे गए हैं वे सभी रूपक रस से परिपूर्ण होते हैं।

दण्डी- आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में काव्य का लक्षण देते हुए कहा है- **अलङ्कृतमसंक्षिप्तम रसभावनिरन्तरम्।**[19] अर्थात् काव्य को अलंकारयुक्त, असंक्षिप्त तथा रसों एवं भावों से निरन्तर परिपूर्ण होना चाहिए। क्योंकि रस के अभाव में काव्य निष्प्राण होता है।

भामह- आचार्य भामह रस व काव्य का संयोग बताते हुये अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में कहते हैं- **युक्तं लोकस्कवभावेन रसैश्च सकलैः पृथक।**[20] अर्थात् काव्य को लोकस्वभाव के साथ-साथ सभी रसों से पृथक-पृथक संयुक्त होना चाहिए। क्योंकि रस ही वह तत्त्व है जो सामाजिकों के भीतर काव्य के सौन्दर्य को उद्घाटित करता है।

---

[14] ध्वन्यालोक, 1.5

[15] नाट्यशास्त्र, 6 पृ 230

[16] काव्यप्रकाश, 4.27-28

[17] साहित्यदर्पण, प्रथम उच्छवास, पृ- 34

[18] दशरूपक, 1.7

[19] काव्यादर्श, 1.18

[20] काव्यालंकार, 1.21 भामह

रूद्रट- आचार्य रूद्रट संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार-सिद्धान्त व ध्वनि-सिद्धान्त दोनों से प्रभावित आचार्य कहे गये हैं। उन्हों ने भी आचार्य दण्डी की भांति रस को काव्य में आवश्यक व नैरन्तर्य स्वीकार किया है। वे अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में कहते हैं-

जगति चतुर्वर्ग इति ख्यातिर्धर्मार्थकाममोक्षाणाम्।
सम्यक्तानभिदध्याद्रससंमिश्रान्प्रबन्धेषु॥[21]

अर्थात् चतुर्वर्गों को कवियों के द्वारा रस के साथ प्रबन्ध-काव्यों में निबद्ध करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हों ने रसों में श्रृंगार रस को प्रधान रस बताते हुये श्रृंगार रस के बिना काव्य को हीन भी बताया है।

अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नाद् भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्॥[22]

अर्थात् सभी रसों में श्रृंगार रस के समान किसी और रस कि सरसता नहीं हो सकती। इससे सब बालक तथा वृद्ध व्याप्त हैं। इसलिए इसकी रचना प्रयत्न-पूर्वक करनी चाहिए। इससे रहित काव्य नीरस होता है। अत: उपयुक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जाना उचित होगा कि कहीं न कहीं विद्वानों ने किसी न किसी रूप में रस सिद्धान्त को संस्कृत साहित्य का एक अभूतपूर्ण अंग स्वीकार किया है, जिसके माध्यम से काव्य रोचक व प्रभावशाली होता है और पाठक व दर्शक को अलौकिक आनन्द की अनुभूति प्रदान कराता है।

संस्कृत साहित्य के महत्त्वपूर्ण साहित्यिक ग्रन्थों में रस सिद्धान्त का वर्णन- संस्कृत साहित्य के महान आचार्यो ने स्व-स्व काव्य ग्रन्थों में रस का अद्भुत प्रयोग किया है-

शृङ्गार रस-

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
नीता सदस्यरस्यत्वं रतिः शृङ्गार उच्यते॥[23]

अर्थात् अपने अनुकूल विभावों, अनुभावों, सात्त्विक तथा व्यभिचारिभावों के द्वारा दर्शकों में रसता को प्राप्त वह रति नामक स्थायीभाव शृङ्गार रस कहलाता है।

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥[24]

अर्थात् यक्ष अपनी प्रिया का वर्णन करते हुए कहता है कि वह तन्वंगी, श्यामवर्णा, पर्वत-शिखर के समान सुन्दर दाँतों वाली, पके बिम्बफल के समान लाल अधरों वाली है। उसकी कटि क्षीण है, नेत्र चकित हिरणी के समान हैं, गहरी नाभि है तथा नितम्बों के बोझ से उसकी चाल मन्द-मन्द चलने वाली और स्तनों के भार से कुछ आगे को झुकी हुई है, मार्ग में ऐसी जो युवती तुम्हें दिखलाई दे, वही मेरी प्रियतमा होगी। उसकी सुन्दरता देखकर मानो ऐसा प्रतीत होगा कि युवती-सौन्दर्य की रचना करते समय विधाता की यह प्रथम एवं सर्वोत्तम कृति है। उक्त वचनों के माध्यम से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यक्ष जब मेघ के समक्ष अपनी प्रियसी के परिचय के रूप में उसके सुन्दर स्वरूप का चित्रण करता है, तो उसके भीतर रति स्थायीभाव अर्थात् श्रृंगार रस की जागृति होती है। वहीं पाठकों के हृदय में भी इस सौन्दर्य स्वरूप चित्रण से श्रृंगार रस कि अनुभूति होती है।

हास्य रस-

विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्व्यभिचारिभिः।
हासः सदस्यरस्यत्वं नीतो हास्य इतीर्यते॥[25]

अर्थात् अपने अनुकूल विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारिभावों के द्वारा दर्शकों में रसत्व को प्राप्त वह हास नामक स्थायीभाव हास्य रस कहलाता है।

---

[21] काव्यालंकार, 16.1 रुद्रट

[22] काव्यालंकार, 14.38 रुद्रट

[23] रसार्णवसुधाकरः, 2.169

[24] मेघदूतम्, उत्तमेघ 22

[25] रसार्णवसुधाकरः, 2.226

हास्य रस का सुन्दर उदाहरण कुमारसम्भवम् के उस प्रसंग में मिलता है जब भगवान शिव ब्रह्मचारी के वेश में पार्वती के समक्ष स्वयं अपने ही गुणों का उपहास करते हैं।

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि ! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥[26]

अर्थात् भगवान शिव ब्रह्मचारी के वेश में पार्वती से कहते हैं, हे मृगनयनी! वरों में जिस सौन्दर्य, कुल, धन आदि की खोज की जाती है, वह तीन नेत्रों वाले शिव में कहीं दिखाई नहीं पड़ता है। उनका शरीर विचित्र है, जन्म का पता नहीं, वस्त्र भी नहीं हैं। यहाँ शिव के द्वारा स्वयं अपने ऊपर व्यंग्य करना तथा संवाद की विनोदमयी शैली हास्य रस को उत्पन्न कर रही है।

करुण रस-

विभावैरनुभावैश्च स्वोचितव्यभिचारिभिः।
नीतः सदस्यरस्यत्वं शोकः करुण उच्यते ॥[27]

अर्थात् स्वोचित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के द्वारा दर्शकों के भीतर रसता को प्राप्त वह शोक नमक स्थायीभाव करुण रस कहलाता है।

करुण रस का सुन्दर उदाहरण उत्तररामचरितम् में राम का सीता से वियोग के प्रसंग से प्राप्त होता है।

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद् द्विधा तु न भिद्यते, वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्, प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ॥[28]

अर्थात् मेरा हृदय अत्यन्त उद्वेग से विदीर्ण हो रहा है, परन्तु दो खण्डों में विभक्त नहीं होता। प्राण व्याकुल होकर भी शरीर नहीं छोड़ते और चेतना भी मोह का त्याग नहीं करती। विह्वल शरीर मूर्छित तो होता है, परन्तु संज्ञाशून्य नहीं होता। अन्तर का सन्ताप देह को जला तो रहा है, किन्तु भस्म नहीं कर देता। मर्मस्थल को भेदने वाला भाग्य प्रहार तो करता है, परन्तु जीवन को सर्वथा छिन्न-भिन्न नहीं करता। उक्त प्रसंग में राम की आन्तरिक वेदना, सीता-वियोगजन्य सन्ताप तथा मानसिक व्याकुलता का अत्यन्त मार्मिक चित्रण हो रहा है, जिससे राम के हृदय में शोक नामक स्थायीभाव अर्थात् करुण रस की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हो रही है।

रौद्र रस-

विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्व्यभिचारिभिः।
क्रोधः सदस्यरस्यत्वं नीतो रौद्र इतीर्यते ॥[29]

अर्थात् स्वोचित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के द्वारा दर्शकों में रसता को प्राप्त क्रोध नामक स्थायी भाव रौद्र रस कहलाता है।

रौद्र रस का सुन्दर दृश्य उत्तररामचरितम् में देखने को मिलता है, जिसमें सीता के वियोग में जब राम क्रोध और क्षोभ से उद्दीप्त होकर कठोर वचन कहते हैं तो रौद्र रस की प्रतीति होती है।

अयि कठोर! यशः किल ते प्रियं किमयशो ननु घोरमतः परम्।
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः कथय नाथ! कथं नु मनस्तव ॥[30]

अर्थात् हे कठोर! तुमको केवल यश ही प्रिय है। पर क्या इस अपयश लोक-निन्दा से बढ़कर भी कोई घोर बात हो सकती है। हे नाथ! मुझे यह बताओ कि जंगल में उस मृगनयनी सीता का क्या हाल हुआ होगा और यह सब जानने के बाद भी तुम्हारा मन उन्हें छोड़ने के विषय में कैसे मान गया ? सीता के प्रति हुए अन्याय और उनके वनगमन की स्मृति से उत्पन्न तीव्र क्रोध एवं ग्लानि से युक्त वासन्ती राम से प्रश्न पूछती है। यहाँ कठोरता तथा आत्मवेदना के कारण वासन्ती के हृदय में क्रोध नामक स्थायीभाव अर्थात् रौद्र रस की अनुभूति हो रही है।

---

[26] कुमारसम्भवम्, 5.72

[27] रसार्णवसुधाकर: 2.245

[28] उत्तर रामचरितम् 3.31

[29] रसार्णवसुधाकर: 2.243

[30] उत्तर रामचरितम् 3.27

वीर रस-

विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्व्यभिचारिभिः।
नीतः सदस्यरस्यत्वमुत्साहो वीर उच्यते ।।[31]

अर्थात् स्वानुकूल विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारिभावों के द्वारा दर्शकों में रसत्व को प्राप्त उत्साह नामक स्थायीभाव वीर रस कहलाता है।

रघुवंशम् में वीर रस का अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। जिसमें राजा रघु के दिग्विजय प्रसंग में वीर रस की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति प्रतीत होती है।

रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः ।
निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः ।।[32]

अर्थात् जिस प्रकार प्रलयकाल में वाराह रूप धारण किये भगवान् विष्णु समुद्र के बढ़े हुये जल को चीरते हुये आगे चलते जा रहे थे, ठीक उसी प्रकार रथ पर बैठे हुये कवच तथा तरकस को धारण किये हुये स्वाभिमानी वीर अज पूर्ण वीरता के साथ अकेले ही शत्रुओं को चीरते हुए बढ़े जा रहे थे।

भयानक-

विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्व्यभिचारिभिः ।
भयं सदस्यरस्यत्वं नीत प्रोक्तो भयानकः ।।[33]

अर्थात् स्वोचित विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों के द्वारा दर्शकों में रसत्व को प्राप्त भय नामक स्थायीभाव भयानक रस कहलाता है।

कुमारसम्भवम् में भयानक रस का वर्णन विशेषतः शिव जी के उग्र रूप प्रसंग में मिलता है जब तप में बाधा उत्पन्न करने के कारण कामदेव को भष्म कर देते हैं।

तपः परामर्शविवृद्धमन्योर्भूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य ।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात ॥
क्रोधं प्रभो ! संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥[34]

अर्थात् अपने तप में बाधा डालने वाले कामदेव पर महादेव जी को इतना क्रोध आया कि उनकी चढ़ी भौहों वाला नेत्र बड़ी कठिनाई से देखा जा सकता था। तभी उनका तीसरा नेत्र खुल गया और उसमें से सहसा धधकती आग की लपटें निकलने लगीं। यह देखकर आकाश में सभी देवता एक साथ चिल्ला उठे रोकिए! रोकिए! अपने क्रोध को रोकिए प्रभो! परन्तु इतनी ही देर में महादेव जी की तीसरी आँख से निकलने वाली उस भीषण आग ने कामदेव को जलाकर राख कर डाला। भगवान शिव के इस रूप को देखकर भय रूपी स्थायीभाव अर्थात् भयानक रस कि अनुभूति हो रही है।

बीभत्स-

विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्व्यभिचारिभिः।
जुगुप्सा पोषमापन्ना बीभत्सत्वेन रस्यते ।।[35]

अर्थात् स्वोचित विभावों, अनुभावों और व्यभिचारिभावों द्वारा पुष्टि को प्राप्त जुगुप्सा नामक स्थायीभाव बीभत्सता के रूप में रसित होता है, अतः बीभत्स रस कहलाता है। बीभत्स रस का स्थायीभाव जुगुप्सा अर्थात् घृणा होती है।

मालतीमाधव के पञ्चम अंक में बीभत्स रस का उदाहरण श्मशान में किसी प्रेत को मांसभक्षण में लगा हुआ देखकर माधव उसकी बीभत्स चेष्टाओं का वर्णन करते हैं-

---

31 रसार्णवसुधाकर: 2.235

32 रघुवंशम् 7.56

33 रसार्णवसुधाकर: 2.250

34 कुमारसम्भवम्, 3.71-72

35 रसार्णवसुधाकर: 2.247

उत्कृत्योकृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डयाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ।। [36]

अर्थात् पहिले खाल को उखाड़-उखाड़ कर कन्धे, नितम्ब, पीठ, पिण्डली आदि अवयवों में ऊंचे उभरे हुए अधिक मात्रा में उपलब्ध, भयंकर-दुर्गन्धयुक्त सड़े हुए मांस को खा चुकने के बाद, दूसरा छीन न ले इस दष्टि से चारों ओर देखता हुआ, और दांत निकाले हुए, भूखा, दरिद्र प्रेत गोद में रखे हुए मुर्दे के हड्डी के भीतर लगे हुए और गढ़ों में स्थित कच्चे मांस को भी धीरे-धीरे खा रहा है। उक्त दृश्यों से जुगुप्सा नामक स्थायीभाव अर्थात् बीभत्स रस की अनुभूति हो रही है।

अद्भुत-

विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्व्यभिचारिभिः।
नीतः सदस्यरस्यत्वं विस्मयोऽद्भुततां व्रजेत् ।। [37]

अर्थात् अपने अनुकूल विभावों, अनुभावों और व्यभिचारिभावों के द्वारा दर्शकों में रसता को प्राप्त विस्मय नामक स्थायीभाव अद्भुत रस कहलाता है।

मेघदूतम् में अद्भुत रस का सुन्दर उदाहरण यक्ष द्वारा मेघ के अलौकिक स्वरूप और उसकी दिव्य यात्रा के वर्णन में देखने को मिलता है। जब मेघ के विलक्षण रूप को देखकर उत्पन्न विस्मय अद्भुत रस को प्रकट करता है।

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ताः हि प्रकृतिकृपणाः चेतनाचेतनेषु ।।[38]

अर्थात् यक्ष सोचता है कहाँ धुएँ, अग्नि, जल और वायु के संयोग से बना यह बादल तथा कहाँ सन्देश पहुँचाने का कार्य, जिन्हें बड़े बुद्धिमान प्राणियों द्वारा ही पहुँचाया जा सकता है। किन्तु यक्ष को अपने तन-मन कि तो सुधि थी ही नहीं, फिर भला उसका ध्यान यहाँ तक कैसे पहुँच पाता। विरह से व्याकुल यक्ष उत्कण्ठा के कारण यह विचार नहीं कर पाता और मेघ से ही सन्देश ले जाने के लिए गिड़गिड़ाने लगता है। सच है, प्रेमियों को यह जानने कि चेतना ही कहाँ रहती है कि कौन जड़ है और कौन चेतन। अत: यहाँ साधारण मेघ को सन्देशवाहक मानने की कल्पना अत्यन्त आश्चर्यजनक है, जिससे अद्भुत रस की अभिव्यक्ति हो रही है।

संस्कृत साहित्य में रस सिद्धान्त की प्रासंगिकता, चुनौतियाँ व समाधान-

प्रासंगिकता- संस्कृत साहित्य में यदि रस सिद्धान्त की बात की जाये तो यह सिद्धान्त प्राचीन होते हुये भी आज अत्यन्त प्रासंगिक है। संस्कृत साहित्य में रस सिद्धान्त का प्रयोग महाकवि कालिदास के नाटकों में मुख्य रूप से देखने को मिलता है। वहीं महाकवि व्यास ने भी जीवन की समग्रता को रसों के माध्यम से प्रस्तुत किया। रामायण, महाभारत आदि प्राचीन महाकाव्यों में करुण, श्रृंगार, वीर, रौद्र और शान्त रस का अद्भुत सामंजस्य देखने को मिलता है। रस सिद्धान्त ने संस्कृत साहित्य की आलोचना को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। यह सिद्धान्त औचित्य और वक्रोक्ति जैसे अन्य सिद्धान्तों के साथ भी समन्वित हुआ और भारतीय संगीत, शास्त्रीय नृत्य, भरतनाट्यम, कथक तथा रंगमंच का मूल आधार बना। वहीं नृत्य काला कथकली या आधुनिक थिएटर प्रयोगों में इसका प्रत्यक्ष अनुप्रयोग देखने को मिलता है। रस के बिना इन कलाओं का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है। वहीं भारतीय सिनेमा में भाव की प्रधानता रस सिद्धान्त से ही प्रेरित है। आधुनिक भारतीय साहित्य में आज भी भाव जागरण और पाठक के आस्वादन का आधार रस ही है। सिनेमा में अभिनय के माध्यम से दर्शक में रसोत्पत्ति का लक्ष्य आज भी रस ही है। जहाँ भावनात्मक जुड़ाव रस के माध्यम से ही प्राप्त होता है, जिससे दर्शकों में श्रृंगार, हास्य, करुण, वीर आदि रसों की अभिव्यक्ति होती है, और इसका मूल कारण यह है कि वर्तमान युग में भी मानवीय भावनाएँ अपरिवर्तित हैं, क्योंकि रस भावनाओं के शुद्धिकरण और सन्तुलन में सहायक होते

[36] मालतीमाधवम्, 5.16

[37] रसार्णवसुधाकर: 2.241

[38] मेघदूतम् , पूर्वमेघ 5

हैं। यदि रसानुभूति की बात की जाये तो, वर्तमान युग की दुर्बोधता में शुद्ध रसानुभूति चुनौतीपूर्ण हो सकती है। किन्तु फिर भी, ये रस सिद्धान्त की मूल शक्ति को कम नहीं कर पाती। अत: यह रस सिद्धान्त कालजयी है और हमेशा रहेगा क्योंकि ये मानवीय भावनाओं की गहराई, कला की उद्देश्यपूर्णता और आनन्द की सार्वभौमिकता पर आधारित है।

चुनौतियाँ- रस सिद्धान्त संस्कृत काव्यशास्त्र का सबसे प्राचीन और प्रमुख सम्प्रदाय है, जिसके आदि प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं। रस को काव्यानन्द माना गया, जो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के संयोग से उत्पन्न होता है। लेकिन इसमें कई सैद्धान्तिक, व्यावहारिक व दार्शनिक चुनौतियाँ भी रही हैं। जिनमें सर्वप्रथम रस सूत्र की अस्पष्टता एक चुनौती के रूप में उभर कर आती है। भरत के सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों की व्याख्या स्पष्ट रूप से देखने को नहीं मिलती है। आगे चलकर आचार्य भट्ट लोल्लट (उत्पत्तिवाद) ने रस की उत्पत्ति विभाव आदि से कहा है। आचार्य शंकुक (अनुमितिवाद) ने रस को अनुमान से प्राप्त होने वाला बताया है। आचार्य भट्टनायक (भुक्तिवाद) के अनुसार रस न उत्पन्न होता है और न अनुमित होता है, बल्कि इसे आस्वाद के रूप में अनुभव किया जाता है। वहीं आचार्य अभिनवगुप्त (अभिव्यक्तिवाद) ने कहा कि रस हृदय में सुप्त स्थायी भावों की व्यंजना है, जो अनुकूल स्थिति को पाकर उत्सर्जित होता है। आचार्यों द्वारा उक्त मतभेद रस सिद्धान्त को चुनौतीपूर्ण बनाते हैं। रसों की संख्या की बात की जाये तो वह भी एक समस्या के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है। जहाँ आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत आदि आठ रस बताए हैं। आगे चलकर आचार्य अभिनवगुप्त ने उनमें शान्त रस जोड़ा और कहा कि रसों कि संख्या नव हैं। पश्चात कुछ आचार्यों ने इसकी संख्या ग्यारह उद्धृत किया। यदि रस सम्बन्धित आधुनिक चुनौतियों की बात की जाये तो इसके विकास में न्यूनता देखने को मिलती है जो एक चुनौती के रूप में हमारे सम्मुख आ खड़ी हुयी है, यही कारण है कि मध्यकाल के बाद इसमें ज्यादा नवप्रवर्तन देखने को नहीं मिलाता। वर्तमान में व्यावहारिक और अनुप्रयोगात्मक कमी होने के कारण आधुनिक साहित्य में पूर्ण अनुप्रयोग कठिन होता जा रहा है और केवल संवेदनशील पाठक ही रसास्वादन कर पते हैं। सामान्य पाठकों के लिए यह उच्च-वर्गीय बन गया है।

समाधान- रस सिद्धान्त की सबसे बड़ी शक्ति उसकी मनोवैज्ञानिक गहराई और आनन्द-केन्द्रित दृष्टि है। आचार्य अभिनवगुप्त ने रस सिद्धान्त को दार्शनिक ऊँचाई तो प्रदान की, परन्तु इससे यह मात्र साहित्यिक सिद्धान्त से ज्यादा आध्यात्मिक हो गया। जिस कारण यह आज भी भारतीय साहित्य आलोचना का आधार बना हुआ है। रस सिद्धान्त एक कालजयी सिद्धान्त है, क्योंकि ये मानवीय भावों की सार्वभौमिकता पर आधारित है। किन्तु इससे जुड़ी कुछ चुनौतियाँ भी पूर्व काल से आधुनिक काल तक देखने को मिलती हैं। जैसे अस्पष्टता, मतभेद, और आधुनिक सामंजस्य, व्यावहारिक प्रयोग में कमी इत्यादि। यदि उक्त चुनौतियों की बात की जाये तो ये चुनौतियाँ वास्तव में हमारे लिए अवसर हैं। आधुनिक व आने वाले समय में रस सिद्धान्त की प्रासंगिकता बनी रहे, इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम साहित्यिक परम्परा का सम्मान करें और समकालीन यथार्थ के साथ उसे जीवन्त बनाने का प्रयास करें। अन्यथा यह आम जन के लिए और अत्यधिक क्लिष्ट होता चला जाएगा। वहीं वर्तमान में इसे व्यावहारिक एवं अनुप्रयोगात्मक बनाने की आवश्यकता है, जिससे साहित्य में इसका प्रयोग सुलभ हो सके और समान्य पाठक व दर्शक आसानी से इसका प्रयोग कर अलौकिक आनन्द का अनुभाव कर सकें। आने वाले समय में रस सम्बन्धित शोध इसके अनुप्रयोगात्मक आयामों, तुलनात्मक अध्ययनों पर केन्द्रित हो सकते हैं, जिससे भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की वैश्विक समझ और अत्यधिक समृद्ध हो सकती है। वहीं साहित्यिक क्षेत्र में यदि रचनाकार रस को और अत्यधिक अनुकूलनीय और समसामयिक बनाएँ, तो इसकी स्थिति और सशक्त होने की सम्भावना है।

उपसंहार- संस्कृत साहित्य में रस सिद्धान्त केवल एक काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि मानवीय भावनाओं का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। यह सिद्धान्त हमें यह समझने में सहायता प्रदान करता है कि काव्य क्यों आनन्दायक होते हैं, भाव कैसे अनुभव में परिवर्तित होते हैं, सौन्दर्य का वास्तविक स्वरूप क्या है। यह सिद्धान्त संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य उपहार है। यह न केवल कला का मूल्यांकन करता है अपितु जीवन को आनन्दमय बनाने का मार्ग भी प्रशस्त करता है। रस के बिना साहित्य पूर्णरूप से शुष्क है। रस सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र की वह आधारभित्ति है, जो काव्य को मात्र शब्द-रचना से ऊपर उठाकर सहृदय पाठक व दर्शक के चित्त में आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करने वाली अलौकिक प्रक्रिया का निर्माण करता है। आचार्य भरतमुनि से लेकर आचार्य अभिनवगुप्त तक के विकास क्रम ने इसे यान्त्रिक संयोग से परे एक आध्यात्मिक-मनोवैज्ञानिक अनुभव में परिवर्तित किया,

जिसमें साधारणीकरण के माध्यम से व्यक्तिगत भाव सामान्यीकृत होकर शुद्ध आनन्द का रूप ग्रहण करते हैं। इस सिद्धान्त की महत्ता इस तथ्य में निहित है कि यह कला को जीवन से जोड़ता है और भावनाओं को शुद्धता प्रदान कर मानव को उच्चतर चेतना की ओर अग्रसर करता है। वहीं रसों में शान्त रस का समावेश विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह अन्य सभी रसों का आधार एवं मोक्षानुभूति को दर्शाता है। हालांकि, रस के विषय में कुछ आलोचनात्मक प्रश्न भी उठते रहे हैं, फिर भी इसका सार्वभौमिक स्वरूप इसे कालातीत बनाता है। यह आज भी काव्य की आत्मा के रूप में अपना स्थान बनाए हुए है, क्योंकि संस्कृत रचनाएँ मुख्य रूप से शास्त्रीय परम्परा पर ही आधारित हैं। संस्कृत साहित्य के पुनर्जागरण में रस सिद्धान्त प्राचीनता और आधुनिकता के बीच एक सेतु का कार्य करता है। यही कारण है कि अलौकिकता और साधारणीकरण की अवधारणा आज भी सौन्दर्यानुभूति प्रदान करती है। आधुनिक कवि अपनी रचनाओं में रस की उपेक्षा करते हुये नहीं देखे जाते, वरन् वे इसे नया स्वरूप तथा नया विषय देकर जीवन्त रखने का प्रयास करते हुये देखे जाते हैं। संस्कृत साहित्य में रस सिद्धान्त की महत्ता इसलिए भी है, क्योंकि यह साहित्य को केवल बौद्धिक या सौन्दर्यपरक ही नहीं, अपितु हृदयस्पर्शी, आनन्दायक बनाता है तथा पाठक को अलौकिक अनुभूति भी प्रदान करता है। रस के बिना संस्कृत साहित्य की समृद्धि और निरन्तरता की कल्पना असम्भव है। यह भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यन्त प्राचीन व प्रभावशाली सिद्धान्त है, जो पूर्व काल से आज तक अपनी प्रासंगिकता को बनाए हुए है एवं आज वर्तमान युग में भी संस्कृत साहित्य की धुरी बना हुआ है। यह न मात्र संस्कृत साहित्य का दर्शन है, अपितु मानवीय सौन्दर्यबोध, भाव-प्रबन्धन तथा आध्यात्मिक विकास का भी एक समग्र दर्शन है। अतः यह कहना संगत होगा कि संस्कृत साहित्य में रस सिद्धान्त की महत्ता अत्यन्त गहन है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :-

1. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल(व्या०), वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 2024

2. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, द्विवेदी पारसनाथ(सम्पादक व व्याख्या), वाराणसी, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, 2015

3. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, पाठक, जगन्नाथ(हिन्दी व्या०), वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, 2006

4. मम्मट, काव्यप्रकाश, विश्वेश्वर, आचार्य(व्या०), वाराणसी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, 2022

5. विश्वनाथ साहित्यदर्पण, लोकमणिदाहाल आचार्य, द्विवेदी त्रिलोकीनाथ, द्विवेदी शिवप्रसाद(व्या0), वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 2022

6. गिरि, विद्यानन्द, तैत्तिरीयोपनिषद्, ऋषिकेश, श्रीकैलाश विद्या प्रकाशन, 2015

7. धनंजय, दशरूपकम्, त्रिपाठी रमाशंकर,(व्या०), वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2001

8. भामह, काव्यालंकार, देवेन्द्रनाथ शर्मा (व्या०), पटना, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, 1906

9. रुद्रट, काव्यालंकार, चौधरी सत्यदेव(हिन्दी व्याख्या), दिल्ली, वासुदेव प्रकाशन, 1965

10. दण्डी, काव्यादर्श, मिश्र, रामचन्द्र(व्या०), वाराणसी, चौखम्बा विद्याभावन, 1996

11. शिंगभूपाल, रसार्णवसुधाकर, पाठक जमुना(सम्पादक व व्याख्या), वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, 2024

12. कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, राय डॉ. गंगासागर(व्या०), वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत भवन ग्रन्थमाला, 2000

13. कालिदास, रघुवंशम्, मिश्र, पण्डितजगदीश(सम्पादक), गोपालगंज, बिहार, मङ्गल प्रकाशन, 2015

14. भवभूति, उत्तररामचरितम्, पाण्डेय रामअवध, मिश्र रविनाथ(व्या0), वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2003

15. कालिदास, कुमारसम्भवम्, पाण्डेय, श्रीप्रद्युम्न(व्या०), वाराणसी, चौखम्बा विद्याभावन, 2006

16. भवभूति, मालतीमाधवम्, त्रिपाठी, रामप्रताप(अनुवादक, सम्पादक), इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 1973

17. कालिदास, मेघदूतम्, शास्त्री वैद्यनाथ झा(व्या०), वाराणसी, कृष्णदास अकादमी, 2002

0% Overall Similarity

NO MATCHES FOUND

This submission did not match any of the content we compared it against.